# विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

**सम्पादक**

**महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ**

1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

**Email :** mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

**Web :** www.mvspujjain.com


## इस अंक में


**पृष्ठ क्र. 1-2**

**भारत में गुप्तकालीन साहित्य**
ईशान अवस्थी

**पृष्ठ क्र. 3-4**

**दक्षिण भारत में भक्ति मार्ग**
र. शौरिराजन

**पृष्ठ क्र. 5-6**

**जब सिक्कों का प्रचलन शुरू हुआ**
संजय कुमार

**पृष्ठ क्र. 7**

**प्राचीन भारत का ज्ञान केन्द्र नालंदा**
विजय परिहार

**पृष्ठ क्र. 8**

**द्रविड़ स्थापत्य के देवालय**
मिथिलेश यादव


# भारत में गुप्तकालीन साहित्य

ईशान अवस्थी

भारतीय इतिहास में गुप्त साम्राज्य का उल्लेखनीय स्थान है। लगभग तीसरी शती ई. के अन्तिम चतुर्थांश से छठी शती ई. के आरम्भ तक, लगभग ढाई सौ वर्षों तक गुप्त सम्राटों ने भारत पर शासन किया। इस अवधि में भारत का नव-निर्माण हुआ और वह उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा। गुप्तों के सम्पन्न, शक्तिशाली और नैतिक शासन में भारत ने भौतिक तथा आध्यात्मिक, दोनों दृष्टियों से समान उन्नति की। समाज में अनेक प्रकार के उद्योगों, व्यवसायों और शिल्पों का अभूतपूर्व विकास हुआ। इन क्षेत्रों में देश इतना आगे बढ़ा कि विदेशों तक उसकी ख्याति व्याप्त हुई। यह युग केवल औद्योगिक व्यावसायिक दृष्टि ही नहीं, अपितु सामाजिक, वैचारिक, साहित्यिक, कलात्मक और प्रशासनिक आदि की महान् उपलब्धियों के कारण भारत का और अपने सम-सामयिक विश्व का अग्रणी रहा। इस युग में अनेक कवि, महाकवि, नाटककार और महान् विचारक हुए। गुप्त युग में जहाँ एक ओर हरिषेण, वीरसेन, वत्सभट्टि, वासुल, मातृगुप्त, मर्तृमेण्ठ, शूद्रक, विशाखदत्त, सुबन्धु, भामह और अमरसिंह जैसे गद्यकार, महाकवि, नाटककार, काव्यशास्त्री एवं कोशकार प्रभृति विद्वानों ने संस्कृत साहित्य की श्री वृद्धि की, विन्ध्यवासी, ईश्वरकृष्ण, दिनाग, उद्योतकर, प्रशस्तपाद और शबरस्वामी जैसे सांख्यकार, नैयायिक, वैशेषिक तथा मीमांसाकारों द्वारा दर्शनविद्या का सर्वांगीण विकास हुआ इसी प्रकार आर्यभट्ट तथा वराहमिहिर जैसे विश्रुत ज्योतिषशास्त्री हुए। वहाँ दूसरी ओर हिन्दू धर्म के मूल स्रोत पुराणों का प्रतिसंस्करण हुआ तथा धर्म, अनुशासन, न्याय की प्रवर्तक याज्ञवल्कयस्मृति पराशरस्मृति नारदस्मृति बृहस्पतिस्मृति और कात्यायनस्मृति जैसी उच्चकोटि की विधि-विधायिका कृतियों का निर्माण और उन पर बृहद् भाष्यों की रचना हुई। संस्कृत साहित्य की गौरवाभिवृद्धि का यह स्वर्ण युग वस्तुतः भारतीय इतिहास के नवोत्थान का विधायक रहा है। इस युग में देश के विभिन्न क्षेत्रों में ऐसे कला-प्रतिष्ठानों का निर्माण एवं पुनरुद्धार हुआ, जिनकी अद्वितीयता एवं ऐतिहासिक गरिमा आज भी बनी हुई है। साहित्य के साथ कला का समन्वय होकर भारत में और सुदूर द्वीपान्तरों में अनेक साहित्य-कला के संगमों की प्रतिष्ठा हुई। साहित्य की अपूर्वता एवं गरिमा को कला में मूर्त किया गया और उनकी भव्यता एवं विलक्षणता को देखने के लिए सुदूर देशों के लोग भारत आये।

इस प्रकार गुप्तों ने अपने सुशासन में भारत को बृहत्तर भारत में परिणत कर एक ओर तो राष्ट्रीय जीवन में भावात्मक एकता को सुदृढ़ किया और दूसरी ओर एशिया के उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण के द्वीपान्तरों में भारत की गरिमा को प्रचारित एवं प्रतिष्ठित किया। उन्होंने सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों से अनेक द्वीपान्तरों में अपने दूतों एवं विद्वानों को भेजा और बाहरी देशों के दूतों तथा विद्वानों को भारत आमन्त्रित किया। भारतीय विद्वान् भिक्षु चीन तथा इण्डोनेशिया गये और वहाँ उन्होंने संस्कृत के ग्रन्थों का व्यापक रूप से अनुवाद किया। इसी युग में चीनी यात्रियों ने भारत की यात्राएँ की और यहाँ की सांस्कृतिक अभ्युन्नति पर अपने विचार व्यक्त किये। इसी समय द्वीपान्तरों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना होकर बृहत्तर भारत का निर्माण हुआ। यही वह समय था, जबकि नालन्दा, श्रीविजय, अनुराधापुर और द्वारावती के विश्वविद्यालय में बौद्ध साहित्य और भारतीय विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन का कार्य हुआ और वहाँ के अध्येताओं द्वारा, विशेष रूप से दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में संस्कृत का अभूतपूर्व प्रचार-प्रसार हुआ। इस सामंजस्य एवं आदान-प्रदान से अविकसित भौतिक तथा बौद्धिक क्षेत्र उन्नत हुए। कला-विकास की दृष्टि से भी इस युग की उल्लेखनीय उपलब्धि है। इसी युग में सारनाथ, मथुरा, अजन्ता में कला के महान् केन्द्र स्थापित हुए। इस प्रकार

गुप्तों द्वारा शासित भारत निरन्तर ढाई–तीन सौ वर्षों तक विद्या और संस्कृति की ज्योति से ज्योतित होता रहा। गुप्त युग में संस्कृत भाषा को अपूर्व सम्मान प्राप्त हुआ। गुप्त सम्राटों की संस्कृतप्रियता के कारण संस्कृत–साहित्य के अनेक अछूते विषयों पर ग्रन्थ निर्माण हुआ। गुप्तों से पूर्व भी सातवाहनों तथा शुंगों ने संस्कृत के विकास विस्तार के लिए विशेष प्रयत्न किये। अपने अभिलेखों और राजाज्ञाओं के लिए उन्होंने संस्कृत का ही उपयोग किया। शुंगों ने तो संस्कृत को राजभाषा पद पर प्रतिष्ठित किया। शुंगों के अनुकरण पर क्षत्रपों ने भी संस्कृत को प्रश्रय दिया। महाक्षत्रप रुद्रदामन् का शक सम्वत् 72 (150 ई.) का जूनागढ़ अभिलेख उसकी संस्कृतप्रियता का द्योतक है। इन पूर्ववर्ती प्रयत्नों के बावजूद साहित्य निर्माण के क्षेत्र में कोई विशेष उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई। इस दृष्टि से गुप्त युग का अपूर्व एवं अतुलनीय योगदान रहा।

गुप्त युग की उल्लेखनीय विशेषताओं में भाषा का प्रश्न महत्वपूर्ण है। गुप्तों ने संस्कृत को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रचलित एवं प्रतिष्ठित किया। गुप्त साम्राज्य के लगभग ढाई सौ वर्षों बाद भारत में आये चीनी यात्री हवैन–त्सांग ने गुप्तयुगीन भारत की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए ब्राह्मण बौद्धों तथा जन सामान्य द्वारा प्रयुक्त संस्कृत का सर्वाधिक प्रभावशाली एवं लोकप्रिय भाषा के रूप में उल्लेख किया है। गुप्त युग में परम्परागत पालि तथा प्राकृत का स्थान संस्कृत ने ले लिया था और समस्त राष्ट्र में दक्षिण–पूर्व एशिया के अनेक देशों में उसका व्यापक प्रचार–प्रसार हुआ। गुप्त युग में संस्कृत भाषा की इस उन्नति एवं लोकप्रियता का कारण यह भी था कि गुप्त सम्राट स्वयं कला–मर्मज्ञ और संस्कृतज्ञ थे। समुद्रगुप्त संस्कृत भाषा में सहज गति रखता था। उसकी काव्यमर्मज्ञता के कारण ही उसे कविराज वीरुद से विभूषित किया गया था। संस्कृत की शिक्षा का सुप्रबन्ध करने के लिए उन्होंने मठों तथा संघारामों में विद्वानों की नियुक्ति की। इनके अतिरिक्त नये शिक्षा केन्द्रों की स्थापना भी की गयी। उनमें नालन्दा महाविहार का नाम उल्लेखनीय है, जो कि गुप्तकाल में न केवल भारत, किन्तु एशिया महाद्वीप में संस्कृत के अध्ययन का सर्वोच्च विद्या–केन्द्र था। संस्कृत के जन सामान्य में प्रचार–प्रसार के लिए गुप्तों ने अपने स्वर्णिम सिक्कों पर संस्कृत भाषा के लेख ही अंकित करवाये। अपने शिलालेखों, ताम्रपत्रों और प्रशस्तियों को संस्कृत में उत्कीर्णित कराके एक ओर तो उन्होंने अपना गहन संस्कृतानुराग व्यक्त किया तथा दूसरी ओर समाज को संस्कृत ज्ञान के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया।

उक्त उदाहरणों से संस्कृत भाषा के प्रति गुप्त शासकों की सहज अभिरुचि का पता चलता है। संस्कृत की अभ्युन्नति के लिए चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' का शासन विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा है। वह स्वयमेव विद्वान् और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके नवरत्नों के सम्बन्ध में परम्परा से अनेक प्रकार की अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। ये नवरत्न वस्तुत कौन थे इस सम्बन्ध में आज भी अनिश्चितता की स्थिति बनी हुई है, क्योंकि उनके अन्तर्गत जिन नामों का उल्लेख किया गया है, ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी समकालीनता सिद्ध नहीं होती है। गुप्त युग में ज्ञान विज्ञान और शिल्प विधा की सर्वथा नई शाखाओं का निर्माण होकर संस्कृत साहित्य का सर्वांगीण विकास हुआ। स्वेच्छित सुविधाओं को प्राप्त कर सर्वथा अनुकूल परिस्थितियों से प्रभावित होकर देश के साहित्य निर्माताओं ने साहित्य की अनेक नई विधाओं का सृजन किया। जहाँ एक ओर वैचारिक दृष्टि से दर्शन की अनेक शाखाओं का सृजन होकर वेदांत तथा बोर्ड दर्शनों में एकता स्थापित हुई वहीं दूसरी ओर काव्य, महाकाव्य, नाटक, गीतिकाव्य और कथा, कहानियों का भी व्यापक स्तर पर सर्जन हुआ। उसके साथ ही ज्योतिष और आयुर्वेद सदृश वैज्ञानिक विषयों पर भी नए दृष्टिकोण से विचार हुआ। पुरातन सिद्धांतों का व्याख्यान होकर नए प्रयोगों की स्थापना हुई।

# दक्षिण भारत में भक्ति मार्ग

र. शौरिराजन

भक्ति को भारतीय दार्शनिक और सांस्कृतिक परंपरा की अनूठी उपलब्धि माना गया है। भक्ति की धारा वैदिक काल से लेकर कई सुंदर तत्वों को स्वीकार कर बराबर बढ़ती ही रही है। भक्ति है आस्था तथा अनुराग को विकास देनेवाली चित्तवृत्ति। किंतु उसका दुरुपयोग बुरे परिणामों का कारण भी प्रायः बना है। भक्ति कहाँ उपजी, किधर पनपी और कैसे बढ़ी है, यह एक शोध का विषय है। काल, स्थिति तथा सुयोग की दृष्टि से हम सभी एक–न–एक समय भारतीय भक्ति–परंपरा के संवर्धक रहे

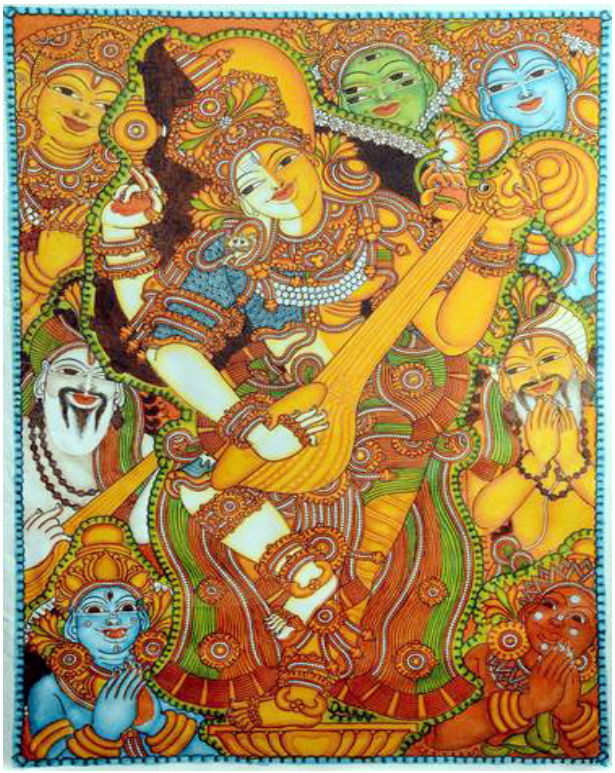

हैं। भक्ति करना मानव मात्र का स्वभाव है, आत्मतोष है। भक्ति मार्ग या भक्ति योग का विकास भारत के सभी भागों में हुआ। उत्तरापथ में भक्ति योग की योजनाएँ बनीं, पर वे सफल हुईं दक्षिणापथ में। संप्रदायों का प्रवर्तन दक्षिण के आचार्यों ने किया, तो उसका संवर्धन उत्तर में अधिक हुआ। वर्णव्यवस्था भले ही उत्तर में प्रारंभ हुई हो, किंतु उसका परिष्कार, सुधार और संगठन दक्षिण में हुआ है। वेदों की उत्पत्ति उत्तर में हुई। किंतु उनका सस्वर स्पष्ट पाठ करनेवाले घनपाठियों की संख्या दक्षिण में आज भी अधिक है। संस्कृत उत्तरापथ की भाषा बताई जाती है, किंतु उसका विकास दाक्षिणात्य विद्वानों ने भी बहुत किया है। जबकि आर्य संस्कृति के कई चिह्न उत्तर में मिटने लगे, तब उसका गौरवशाली विकास दक्षिण में होने लगा। इस प्रकार उत्तर और दक्षिण एक–दूसरे के पूरक, पोषक और समर्थक रहे हैं। भारत की बड़ी–बड़ी विभूतियों ने इस 'समन्वय–सेतु' को सुदृढ़ बनाने का भरपूर प्रयत्न किया है। उत्तर के हिमालय पर, गंगा–यमुना पर, काशी–प्रयाग, वृंदावन आदि पावन धामों पर, श्रुति, स्मृति, शास्त्र, पुराण और काव्य ग्रंथों पर दक्षिण वैसा ही गर्व और गौरव प्रकट करता है, जैसा कि उत्तर, दक्षिण के सेतु रामेश्वरम्, मदुरै, कांची आदि पुनीत स्थलों पर, शंकर, रामानुज आदि आचार्यों पर और उनके द्वारा चलाए दर्शनों पर। इस भारत और भारतीय प्रजा की समग्र परिकल्पना ही भारतीय परंपरा और सामाजिक धर्म, संस्कृति की संजीविनी है। भक्ति मार्ग के सार्वजनिक विस्तार का दक्षिण को विशेष गौरव प्राप्त था, जिसे उत्तर के उदार विद्वानों ने प्रकट किया है, जैसे–

कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः।
क्वचित् क्वचित् महाराष्ट्रे द्रविड़ेषु च भूरिशः।।
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी।
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी।।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा भुवनेश्वर।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः।।

पद्मपुराण और श्रीमद्भागवत दोनों में यह बात समान रूप से बताई गई है–

उत्पन्ना द्राविड़े चाहं कर्णाटे वृद्धिमागता।
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।

भक्ति स्वयं कहती है, मैं द्राविड़ देश (तमिलनाडु) में उत्पन्न हुई, कर्नाटक (तथा आंध्र) में पनपी, महाराष्ट्र में थोड़ी स्थिरता पा सकी। फिर वहाँ से मैं फैलते–फैलते गुजरात में लुप्त प्रायः हो गई। भक्ति मार्ग की दो प्रमुख धाराएँ अत्यधिक प्रसिद्ध हुई हैं–शिव भक्ति धारा और विष्णु भक्ति धारा। इन दोनों के अंतर्गत अनेक देवी–देवताओं की उपासना की परंपराएँ प्रचलित हैं। भक्ति मार्ग का वर्तमान सार्वजनिक विस्तार ई. छठी शती के कुछ पहले होने लगा था। इसका सुसंगठित सामूहिक आंदोलन दक्षिण में ही आरंभ हुआ। भक्ति को परम प्रतिष्ठा दक्षिण के शैव तथा वैष्णव आचार्यों ने दी। जाति, भाषा, प्रदेश आदि सभी भेदों को भुलाकर 'भक्तकोटि' (भक्तों की श्रेणी) तैयार करने का पूरा श्रेय दक्षिण को प्राप्त है। शिव भक्ति धारा शिव आर्य देवता हैं, या अनार्य देवता। यह विवाद का विषय है। आज आर्य–अनार्य का विभाजन अत्यंत दुष्कर है। ऐसी आर्यता कहीं भी देखने को नहीं मिलेगी, जिसमें अनार्यता का समाहार न हुआ हो। ऐसा ही अनार्यता के बारे में भी है। जैसे अनार्य तत्वों को स्वीकार कर आर्यता विकसित हुई। वैसे ही आर्य तत्वों को आत्मसात् कर अनार्यता भी नया ही स्वरूप पा चुकी है। अतः भारतीय प्रमुख भक्ति धारा के रूप में शिव भक्ति धारा को स्वीकारना सुसंगत होगा। ऋग्वेद में रुद्र को अंतरिक्ष देवता या

मध्यम श्रेणी का देवता माना जाता है। अथर्ववेद में रुद्र को 'व्रात्य' से लेकर 'महादेव', 'ईशान','ईश', 'महेश' आदि उपाधियाँ दी गई हैं। इसी का विकास बाद के स्मृति–ग्रंथों तथा पुराणों में देखा जाता है। यजुर्वेद में रुद्र के पशुपति, भिषक् शिव, शिवतर, शंकर, गिरिशंत, गिरित्र, गिरिश, गिरिचर, क्षेत्रपति, वणिक् आदि नाम दिए गए हैं। इनके अलावा रुद्र को स्तेनानां पतिरू (चारों का मुखिया), स्तायूनां पतिरू (ठगों का नायक), तस्कराणां पतिः (चोर–पति), वनानां पतिरू (जंगल का अधिपति) आदि उपाधियाँ भी दी गई हैं। शैव मत का सबसे प्राचीन और प्रमुख रूप लिंग–पूजा माना गया है।

सिंधुघाटी के लोग लिंगोपासक थे। उनका तथा वैदिकों का सम्मिश्रण ऋग्वेद काल में हो चुका था। आर्यों ने सिंधुघाटी के देवताओं को भी अपने देवताओं में मिला लिया। यह भी हो सकता है कि आर्येतर लोगों ने अपनी देवाराधना के साथ आर्यों की देवाराधना को भी मिला लिया हो। जब समाज में आर्येतरों का जोर बढ़ा, तब वे अपने इष्टदेवताओं को आर्य देवता के समान ही प्रशस्त करने लगे। जैसा भी हो, यह समन्वय की बात है, जिसमें लेना भी हुआ, और देना भी। इसी प्रकार स्त्री देवता अंबिका का समावेश भी आर्येतर लोगों से आर्यों में हुआ। यही आगे चलकर शिव–पार्वती, शिव–शक्ति, अर्ध–नारीश्वर आदि रूपभेदों में विकसित हुआ। बहुत वेदोत्तर–काल में, उपनिषद् ग्रंथों में, रुद्र की उपासना का प्रचार नए धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों के आधार पर होने लगा। व्रात्य देवता रुद्रआर्य देवता मंगलकारी शिवस्वरूप बन गया। इसी समय शैवमत और शिव भक्ति का विस्तार होने लगा। भक्तिवाद तत्कालीन प्रचलित लोक धर्मों को समेटकर फैलने लगा। वैदिक युग विनायक और रुद्र एक ही देवता माने गए। बाद में वे अलग कर दिए गए। रुद्र पत्नी अंबिका भी अलग प्रतिष्ठा पाने लगी और दुर्गा, महादेवी, शक्ति आदि नामों से पूजी जाने लगी। दक्षिण में जो मुरुकन् (स्कंद) की पूजा प्रशस्त थी, वह भी शैव धर्म का अंग बन गई। इस प्रकार कई देवी–देवताओं को शिवगण या शिव परिजन बना दिया गया। यह समन्वयकारी भक्ति आंदोलन था। इस समीकरण की अनूठी साधना में भारत भर के आर्य तथा आर्येतर सभी साधक जुट गए। वाल्मीकि रामायण के समय में रुद्र का स्वरूप सौम्य था। शिव अर्थात् मंगलकारी के रूप में वह रुद्र लोकप्रिय हो गया। वाल्मीकि ने शिव के लिए महादेव, महेश्वर, शंकर, त्र्यंबक, रुद्र आदि पर्यायवाची नामों का भी प्रयोग किया है। वाल्मीकि ने एक स्थल पर शिव को जगत् की सृष्टि और संहार करनेवाला, सबका आधार एवं गुरु कहा है। यद्यपि रामायण के मूल, प्रक्षिप्त तथा संवर्धित रूपों की रचना कई शतियों तक हुई है, फिर भी शिव की लोकप्रियता का साक्ष्य इस आदिकाव्य में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। महाभारत में तो शिव–पार्वती की पूजा–आराधना, शैव संप्रदाय तथा शिव भक्ति का और अधिक विस्तार होने के प्रमाण मिलते हैं। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी के प्रारंभ में माहेश्वर सूत्रों को ('अ,इ,उ...') उद्धृत कर यह सिद्ध किया है कि भाषा तथा वर्ण विकास के मूल प्रवर्तक महेश्वर हैं। ईसा पूर्व चौथी शती से शिव भक्ति धारा का प्रचार राजाश्रय के सहारे होने लगा था। इसके प्रमाण उस काल के सिक्के, शिवलिंग, भित्तिचित्र आदि भारतभर में पाए जाते हैं। पंचवटी के उत्तर में जो अगस्त्याश्रम था, वहाँ अगस्त्य द्वारा स्थापित ब्रह्म स्थान, अग्नि स्थान, विष्णु स्थान, महेंद्र स्थान आदि देव स्थानों में भग स्थान और कार्तिकेय स्थान का भी उल्लेख है। यह भग स्थान शिवलिंग का पूजा स्थल होना चाहिए। दक्षिण के गुड्डीमल्लम नामक स्थान में ई. पू. दूसरी शती का शिवलिंग मिला है। इसके पूर्व ही लिंग पूजा तथा रुद्र देवता की उपासना दक्षिण में प्रचलित थी तोल्काप्पियम् में मायोन् (कृष्ण या विष्णु), चेयोन् (अरुणवर्ण के देवता स्कंद), वेंतन् (राजा या इंद्र), वरुणन् (वरुण) और कोट्वै (दुर्गा या अंबिका) का वन्य, पर्वतीय, कृषि प्रधान, समुद्रतट तथा बंजर प्रदेशों के अधिदेवताओं के रूप में उल्लेख हुआ है। तोलकाप्पियर के जमाने में (ईसा पूर्व छठी शती) देवमूर्ति (पटिमै प्रतिमा) की पूजा आराधना होती थी। उत्सव, पर्व मनाए जाते थे। वीर गति पाए हुए प्रसिद्ध योद्धाओं की स्मृति में शिलाएँ गाड़कर उनकी पूजा लोग करते थे। 'पूजा' शब्द ही तमिल के पूचेय् (फूल द्वारा की जानेवाली अर्चना) इस प्रयोग से बना है। किंतु तोल्काप्पियम् ग्रंथ में नागपूजा या लिंगपूजा का कोई उल्लेख नहीं है। संभवतरू उनके समय में लिंगपूजा तमिलनाडु में प्रचलित नहीं हुई हो। उस ग्रंथ के आधार पर इतना तो माना जा सकता है, कि उस काल के पूर्व ही समाज में मूर्तिपूजा शुरू हो गई थी। तमिल की संघकालीन कृतियों में 'शिव' का नाम नहीं पाया जाता है। रुद्र के रूप वर्णन तथा पर्याय के शब्द ही मिलते हैं। त्रिनेत्रधारी, जटाधारी, तपस्वी, आदिदेव, ब्राह्मणश्रेष्ठ, चंद्रशेखर, गंगाधर, मेघधर, वेदविद्, विषकंठ, खप्परधारी, व्याघ्रचर्मधारी, लोकरक्षक, ऋषभ वाहन, संहारमूर्ति, त्रिपुरसंहारी, भस्मधारी आदि विशेषण शिव के संबंध में मिलते हैं। किंतु इनमें शिव के पर्याय में 'इरैवन् इरैयवन् (सर्वांतर्यामी या सर्वव्यापी) शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं।

ई. दूसरी शती के जैन तथा बौद्ध महाकाव्य शिलप्पतिकारम एवं मणिमेखलै में रुद्र, विष्णु या नारायण, बलदेव, स्कंद, काली आदि देवताओं के मंदिर तथा वहाँ की पूजा आदि का वर्णन आता है। किंतु इन ग्रंथों में भी 'शिव' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। शिव के वर्णन में 'अरुण जटाधारी अंतरिक्ष देवता' का प्रयोग हुआ है। इन काव्यों में शिव पूजा तथा शिवालयों में होनेवाले त्योहारों की भी चर्चा है। मणिमेखलै में केवल 'शैववादी' (शैव संप्रदाय का प्रचारक) का निर्देश हुआ है। अतः शैव संप्रदाय के फैलने के बाद ही, शिव मूर्ति तथा शिव–पावर्ती की परिकल्पना साकार हुई। शिव और पार्वती को मानवरूपी सौम्य प्रतिमाओं में प्रतिष्ठापित करने का श्रेय सर्वप्रथम दक्षिण को, विशेष करके आंध्र और तमिल प्रदेश को है। आज भी दक्षिण के शिवालयों में मूल स्थान (गर्भगृह) की पूजा–मूर्ति शिवलिंग तथा परिक्रमा (जुलूस) की उत्सव–मूर्ति के दक्षिणेश्वर, दक्षिणामूर्ति, (काँसे की मूर्ति) हम देखते हैं।

# जब सिक्कों का प्रचलन शुरू हुआ

संजय कुमार

जब तक समाज एवं नगरों का आकार सीमित था, उस समय तक पशु, अनाज, नमक, कपड़ा, सरल उपकरण आदि का इस्तेमाल विनिमय के साधन के रूप में किया गया। बाद में चलकर विकसित व्यापारिक दशा के दौरान विनिमय प्रणाली कारगर साबित नहीं हुई। फलस्वरूप बहुमूल्य, दुर्लभ तथा टिकाऊ धातुओं के टुकड़ों को मुद्रा के एक साधन के रूप में स्वीकारा गया।

सोने, रजत और ताँबे के सिक्के उपयोग में लाए जाने लगे। मुद्रा के रूप में उपयोग करने के लिए इन धातु–खंडों का मूल्य तय किया गया। राज्य जैसी संस्था का उदय हुआ तो विभिन्न प्रदेशों के शासकों एवं अधिकारियों ने मुद्रा जारी करने का अधिकार अपने हाथों में ले लिया। मुद्राओं पर राजकीय चिह्न अंकित किए जाने लगे। इस तरह अर्थव्यवस्था के व्यवस्थित संचालन के रूप मुद्रा ने महत्वपूर्ण स्थान हासिल कर लिया। मनुष्य की आवश्यकता एवं विनिमय की अनेक चुनौतियों तथा समस्याओं ने मुद्रा प्रणाली को जन्म दिया। मुद्रा अथवा सिक्का धातु का एक ऐसा टुकड़ा होता है जिसका एक निर्धारित भार होता है। इसमें कुछ लेख, आख्यान या कोई बनावट, पशु, पक्षी, मनुष्य, पुष्प, देवी–देवता की आकृति आदि के रूप दिखाई देते हैं। भारतीय सिक्कों की दुनिया इतिहास के साथ बदलती रही है। सिक्कों में सबसे प्राचीन कार्यापण (पंचमार्क) है जो चाँद का बनाया जाता था। कितने ही राजा और राजवंश भूले जा चुके होते अगर मुद्राएँ न होती।

धातुमुद्रा का चलन आरम्भ होने से विनिमय में सुविधा हुई और व्यापारिक गतिविधियों में एक गुणात्मक फक पड़ा। चाँदी के आहत सिक्के व्यापक वैध मुद्रा हो गए, यद्यपि ताँबे के आहत सिक्के और ढले हुए सिक्के भी एक हद तक चलते रहे। सिक्कों के परिमाण से चाँदी की उपलब्धता सूचित होती है। जिसमें से कुछ राजस्थान की खानों से निकाली जाती थी। सिक्के कोन जारी करता था, यह स्पष्ट नहीं है, क्योंकि आहत सिक्कों पर आम तौर पर सिर्फ प्रतीक ही हैं। हो सकता है, विनिमय के काम में लगे संगठन सिक्के जारी करते हों, क्योंकि उनमें से कुछ में मुद्रालेख नगम अंकित है, जो शायद व्यापारिक संगठन निगम से सम्बद्ध हो। सिक्कों की ढलाई एक शहरी पेशा रहा होगा। मानक मुद्रा पण था, और उससे बड़ी तथा छोटी इकाइयों का विकास हुआ होगा। विनिमय सम्बन्धों में सिक्के भारी बदलाव के सूचक हैं। वे विनिमय और लेखा का एक समान आधार प्रस्तुत करते और एक ही प्रणाली के अन्तर्गत तरह–तरह की वस्तुओं का मूल्यांकन सम्भव बनाते हैं। इससे दूरवर्ती व्यापार का मार्ग प्रशस्त हुआ और व्यापारियों के बीच सम्बन्ध स्थापित हुए। ब्याज देनेवाला निवेश वित्तदाता के पेशे का अंग बन गया, क्योंकि सिक्कों का संग्रह और पूँजी की तरह उनका

उपयोग किया जा सकता था। इससे सट्टेबाजी भी आर्थिक दृष्टि से लाभदायक हो जाती है। भारत के विभिन्न भागों में प्राप्त विविध प्रकार की मुद्राएँ एकत्र हैं, जो भारत के प्राचीन इतिहास को समझने में सहायता देती हैं। ये मुद्राएँ विभिन्न धातुओं की हैं, जैसे–सोना, चाँदी, शीशा और ताँबा। मुद्राएँ इतिहास के निर्माण में हमारी बड़ी सहायता करती हैं। ये हमें शासक का परिचय दिलाकर यह बतलाती हैं कि उसने कब–कब और भारत के किस–किस भाग पर राज्य किया। इन मुद्राओं से ही कई बार विभिन्न राजाओं के अस्तित्व का पता चलता है। मुद्राएँ कालक्रम का निर्णय करने में हमारी सहायता करती हैं। भारत की अत्यन्त प्राचीन पंचमार्क (उप्पेदार या ठोकुआ) मुद्राओं से तत्कालीन प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली का परिचय मिलता है। यूनानी राजाओं के शासन का परिचय मुद्राओं द्वारा ही होता है। शक क्षत्रपों के शासन की जानकारी मुद्राएँ देती हैं। मुद्राओं ने समुद्रगुप्त की सही तिथियाँ जानने में सहायता दी है। गुप्त शासकों की विजय का ज्ञान मुद्राओं से प्राप्त हुआ है। विजेता शत्रु पराजित कर उसकी मुद्राओं के प्रचलन का निःशेष कर अपनी मुद्राएँ को चलाया करते थे। ऐसी स्थिति में राज्य विस्तार का अध्ययन केवल मुद्राओं के आधार पर कर पाना उचित नहीं होगा। फिर भी वंशविशेष के शासकों की संख्या का बोध मुद्राओं से हो जाता है। शक पल्लवकाल में प्रचलित मुद्राओं के अध्ययन से तत्कालीन शासन पद्धति का ज्ञान हो जाता है। मुद्राओं के अध्ययन से आर्थिक अवस्था पर प्रकाश डालती हैं। इनकी अधिकता से उस काल की तत्कालीन धार्मिक भावनाओं का भी कुछ–न–कुछ बोध हो जाता है। मुद्राएँ व्यापारिक उन्नति का बोध हो जाता है। भारत से पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होनेवाली रोमन मुद्राओं से पता चलता है कि किसी समय भारत और रोमन साम्राज्य के बीच बड़े पैमाने पर व्यापार होता था। इन मुद्राओं पर राजाओं के चित्र अंकित हैं। इसके आधार पर उन राजाओं के सिर की पोशाक के

बारे में धारणाएँ बनाई जा सकती हैं। कभी–कभी तो इन मुद्राओं से राजाओं के मनोरंजन और उनके प्रिय व्यापारों का पता चलता है। मुद्राओं में कमी से हमें इस बात का संकेत मिलता है कि देश संकट काल से गुजर रहा था। भारत पर हूणों के आक्रमण के समय गुप्तवंश की मुद्राएँ उत्कर्ष पर नहीं थीं। गुप्तकालीन मुद्राओं पर अंकित चिह्नों से पता चलता है कि हिन्दू धर्म के प्रति वे काफी उत्साहित थे। भारत पर यूनान के आक्रमण के पश्चात् मुद्राओं पर राजाओं के नाम अंकित किए जाने लगे। इंडोबैक्ट्रियन राजाओं ने अत्यधिक संख्या में मुद्राएँ बनाई। पंजाब और उत्तर–पश्चिम सीमान्त की भूमि इन्हीं राजाओं के अधीन थी। इन मुद्राओं पर उत्कृष्ट कला दिखाई गई और इनका भारतीय मुद्राओं पर अत्यधिक मात्रा में प्रभाव पड़ा है। भारतीयों ने मुद्रा–सम्बन्धित जो शैली और तकनीक उधार ली, वह था राजा का चित्र और नाम। यूनान की मुद्राओं से पता चलता है कि यूनान के लगभग तीस राजाओं और रानियों ने भारत में राज्य किया। इनमें से चार या पाँच को ही भारतीय विद्वान मान्यता प्रदान करते हैं। यद्यपि ये मुद्राएँ उतनी उच्चकोटि की नहीं हैं। फिर भी उनसे पर्याप्त ऐतिहासिक जानकारी उपलब्ध होती है। इन मुद्राओं के बिना तो इतना भी पता न चलता कि शक युग में सिथियनों का एक दल गुजरात और काठियावाड़ में आकर गया था। इस दल के लोगों ने मुद्राएँ बनाई। इन मुद्राओं पर राजा और उनके पिता का नाम लिखा मिलता है। इन मुद्राओं के आधार पर पश्चिमी क्षत्रपों के तीन सौ वर्ष के इतिहास की जानकारी प्राप्त की गई है।

बौद्धकाल के दौरान कुछ इलाकों में वस्तु विनिमय के द्वारा अदला–बदली का रिवाज था, विशेषतः ग्रामीण–वन्य समाज में किसी ने कपड़ा देकर कुत्ता ले लिया, आदि उदाहरण जातक कथाओं में मिल जाते हैं, परन्तु साधारणतः व्यापारिक समाज में सिक्कों का प्रचार था, जिनका प्रयोग क्रय–विक्रय के लिए किया जाता था। हिरण्य के द्वारा क्रय–विक्रय बुद्धकालीन भारतीय व्यापार में प्रचलित था। सर्वाधिक प्रचलित सिक्का कहापण (स. कार्षापण) कहलाता था। कहापण बौद्धकाल का एक अति प्रचलित सिक्का था और जिस प्रकार आज हम साधारणतः धन के लिए पैसे शब्द का प्रयोग कर देते हैं, उसी प्रकार बौद्धकाल में लोग कहापण का प्रयोग करते थे। विनय–पिटक की अट्ठकथा (समन्तपासादिका) में बुद्ध के जीवन–काल में अर्थात् राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु के शासन–काल के समय प्रचलित मुद्रा–प्रणाली पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है, उस समय राजगृह में एक कहापण 20 मासे (मासक) काय जब कि एक पाद पाँच मासे (मासक) के बराबर होता था। जनपदों में एक कहापण का चतुर्थ भाग पाद कहलाता था। पाँच मासे (मासक) का एक पाद और चार पाद का एक कहापण होता था। इस प्रकार एक कहापण 20 मासक का होता था। मासक या मासा उस समय धातुओं के वजन की एक तौल थी। बुद्धघोष ने बुद्धकालीन कहापण सिक्के के लिए श्प्राचीन नील कहापणश (पोराणस्य नीलकहापणस्य) शब्द का प्रयोग किया है और उसे रुद्रदामक आदि सिक्कों से अलग प्रकार का बताया है। रुद्रदामक सिक्कों से आचार्य बुद्धघोष का तात्पर्य निश्चयतः रुद्रदामा के द्वारा चलाए गए सिक्कों से है। बुद्धघोष द्वारा उल्लिखित 'रुददामक' सिक्कों को चलाने वाला प्रसिद्ध शक राजा महाक्षत्रप रुद्रदामा प्रथम था, जिसने 130 ई. से 150 ई. तक मालवा में शासन किया। उसके समय के कई अभिलेख भी मिले हैं और जूनागढ़ में प्राप्त एक अभिलेख में उसके नाम और उपाधि का स्पष्ट उल्लेख है। पुरातत्व की खोजों से यह भी सिद्ध हो चुका है कि उसने चाँदी और ताँबे के सिक्के चलाए थे, जिनमें से कुछ आज प्राप्त हैं। बुद्धघोष ने अट्ठसालिनी में सफेद (पंडर) रंग के, बड़े आकारवाले (पुथुल) तथा चौकोर (चतुरस्स) कहापणों का उल्लेख किया है। सफेद (पंडर) रंग से उनका चाँदी के सिक्के होना ही सिद्ध होता है। अट्ठसालिनी में एक दूसरी जगह बुद्धघोष ने 'रजत' शब्द की व्याख्या करते हुए उस 'कहापण' बताया है। कहापण प्रायः चाँदी के होते थे। प्राक्–मौर्यकाल में चाँदी के कई कहापण मिले हैं। यद्यपि पालि साहित्य के आधार पर कहापणों का चाँदी के सिक्के होना ही सिद्ध होता है, परन्तु यह भी प्रायः सुनिश्चित है कि प्राक्–मौर्यकाल के कुछ ताँबे के कहापण मिले हैं। कहापण चाँदी और ताँबे कहापण, पाद कहापण, मासक, अद्धमासक और काकणिका नामक सिक्के दोनों ही धातुओं से बौद्धकाल में बनाए जाते थे। कहापण के अलावा अद्ध प्रचलित थे। काकणिका सम्भवतः उस समय का सबसे छोटा सिक्का था।

अट्ठसालिनी के प्रमाण पर हम जानते हैं कि 'मासक नामक सिक्के ताँबे, लकड़ी और लाख के बनाए जाते थे। बैलों की एक जोड़ी 24 कहापण में आ जाती थी। एक गधे की कीमत प्रायः आठ कहापण थी। घास का एक गट्ठर एक मासक में आ जाता था। मजदूर की दैनिक मजदूरी प्रायः मासक या अर्द्धमासक होती थी। घोड़ों की उस समय अधिक कीमत मालूम पड़ती है। अच्छी जाति के घोड़े हजार कहापण लेकर 6000 कहापण तक के आते थे। काशी के बहुमूल्य वस्त्रों की कीमत एक लाख कहापण तक होती थी और उनका उपयोग उच्च वर्ग के लोग कर सकते थे। मौर्यकालीन सिक्कों की जानकारी अर्थशास्त्र से होती है। इस समय चाँव के सिक्के होते थे जिसे रुपया–रूप कहा जाता था, लेकिन यह चाँदी का सिक्का शुद्ध चाँदी का नहीं होता था। इसमें कुछ अंश में ताँबे और लोहे इत्यादि की भी मिलावट होती थी। चाँदी के वास्तविक सिक्के 'पण' कहे जाते थे 'पण' आधा, 1/4 और 1/8 (अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी) भाग का होता था सम्भवतः पण का 1/16 एकन्नी भाग भी होता था। मौर्यकाल में बड़े सिक्क को तोड़कर उनके टुकड़ों को छोटे सिक्कों का मूल्य दिया जा सकता था। रजत सिक्के का वजन 1 कर्ष होने के कारण इसे कर्षापण भी कहते थे। मौर्यकाल तक ताँबे के सिक्के पूर्णतः व्यवहार में आ गए थे। चाँदी के सिक्कों के समान ताँबे के सिक्कों में भी अन्य धातुओं की कुछ मिलावट होती थी। कौटिल्य इसे मासक और काकिणि की संज्ञा देता है।

# प्राचीन भारत का ज्ञान केन्द्र नालन्दा

विजय परिहार

प्राचीन भारत के ज्ञान–केन्द्रों में नालन्दा महाविहार का नाम उल्लेखनीय है। भारत में इस प्रकार के ज्ञान–केन्द्रों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन और व्यापक रूप में रही है। तक्षशिला, वलभी, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी, काशी, जालन्धर काश्मीर, पुष्कलावती और काँची इसी प्रकार के विद्यापीठ थे। वहाँ राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अध्ययन–अध्यापन की व्यवस्था थी। नालन्दा महाविहार इसी प्रकार का विश्वविद्यालय था। इस महाविहार के अवशेष बिहार की वर्तमान राजधानी पटना (पाटलिपुत्र) से पचपन मील दक्षिण–पूर्व में बड़गाँव के विस्तृत क्षेत्र तक बिखरे हुए मिले हैं। मगध की राजधानी राजगृह से उत्तर–पश्चिम की ओर उसकी दूरी लगभग एक योजन पर्यन्त बतायी गयी है। नालन्दा बौद्धों तथा जैनों, दोनों धर्मों का महान् केन्द्र था। बुद्ध तथा महावीर के समय में नालन्दा एक विशाल एवं प्रसिद्ध नगर के रूप में विद्यमान था।

बौद्धों के निकायों में उसकी विस्तृत चर्चाएँ हुई हैं। बुद्ध के प्रधान शिष्य उपतिष्य सारिपुत्र का जन्म नालन्दा में ही हुआ था और वहीं उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। उनकी स्मृति में वहाँ एक चौत्य का निर्माण किया गया था। बुद्ध स्वयं वहाँ गये थे। सम्राट ने भी नालन्दा जाकर सारिपुत्र के चौत्य की पूजा की थी और एक विशाल एवं भव्य स्तूप का निर्माण कराया था।

जैनों के 'कल्पसूत्र' (जैकोबी संस्करण, पृ. 64) में नालन्दा के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। वह इतना महत्वपूर्ण स्थान था कि जैनधर्म के 24वें तीर्थंकर महावीर स्वामी ने वहाँ लगभग चौदह वर्षों तक निवास किया। इस अवधि में वहाँ जैनों के कई मन्दिर निर्मित हुए, जिनके अवशेष खुदाइयों से उपलब्ध हुए हैं। चीनी यात्री हैन–त्सांग और ईत्सिंग ने, जो कि सातवीं शती ई. में आये थे और कई वर्षों तक यहाँ रहे, विशेष रूप से नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्यों के सान्निध्य में रहकर ज्ञान प्राप्त किया। अपने यात्रा–वृत्तान्तों में उन्होंने नालन्दा की तत्कालीन स्थिति का स्वानुभूत वर्णन किया है। जिस समय हैन–त्सांग नालन्दा आया था उस समय वहाँ लगभग दस हजार विद्यार्थी अध्ययन करते थे। विश्वविद्यालय में एक हजार पाँच सौ दस आचार्य–प्राचार्य अध्यापन के लिए नियुक्त थे। बौद्ध–ज्ञान के जिज्ञासु हेन–त्सांग ने नालन्दा के तत्कालीन कुलपति शीलभद्र का शिष्यत्व प्राप्तकर लगभग पाँच वर्षों तक एक अन्तेवासी की भाँति विश्वविद्यालय में जीवन–यापनकर बौद्धधर्म तथा तत्व–ज्ञान का विधिवत् अध्ययन किया था। हैन–त्सॉग ने नालन्दा महाविहार को संसार का सबसे बड़ा विद्या केन्द्र बताया है और वहाँ के आचार्यों की अद्भुत विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हें ज्ञान का प्रदीप्त पुंज कहा है।

राष्ट्रीय स्तर पर संचालित नालन्दा बौद्ध विहार को प्रचुर दान देकर उसे महाविहार एवं विश्वविद्यालय स्तर पर उन्नत करने का श्रेय गुप्त सम्राट कुमारगुप्त 'शक्रादित्य' (414–455 ई.) को है। उसके बाद बुधगुप्त (475–495 ई.) ने उसका पुनर्निर्माण किया। कहा जाता है कि नालन्दा के छमंजिले भवन को छह विभिन्न राजाओं ने निर्मित कराया था। नालन्दा के उत्थान और विकास में सर्वाधिक योगदान गुप्त सम्राटों का ही रहा है। विश्वविद्यालय में अध्ययन हेतु चीन, कोरिया, मंगोलिया, जापान, तिब्बत, श्रीलंका और पूर्वी तथा पश्चिमी द्वीपसमूहों के विद्यार्थी आते थे और ज्ञान–सम्पत्ति लेकर अपने देशों को लौटते थे। विश्वविद्यालय के नियम उदार थे और तदनुसार सर्व सामान्य के लिए उसमें अध्ययन की सुविधा थी। अन्तेवासी चाहे जिस देश तथा धर्म का हो, उसे नालन्दा विहार में विचार–स्वातन्त्र्य के अधिकार प्राप्त थे। जो छात्र अपनी तर्कबुद्धि से विशिष्टता प्राप्त करता था, अथवा अनुसन्धान द्वारा विद्या की किसी नयी धारा को प्रस्तुत करता था, उसका सामूहिक सम्मान किया जाता था। अनुसन्धान कार्य की सुविधा के लिए विश्वविद्यालय का एक पुस्तकालय था, जिसमें कई सहस्र हस्तलिखित पोथियाँ सुरक्षित थीं। तुर्कों के आक्रमण के समय इस विशाल, बहुमूल्य एवं दुर्लभ पुस्तकालय का ध्वंस हुआ।

**पुस्तक चर्चा**/मिथिलेश यादव

# द्रविड़ स्थापत्य के देवालय

लगभग प्रत्येक व्यक्ति, जो भी दक्षिण भारत के भ्रमण के लिए जाता है, वहाँ पर मंदिरों की बहुतायत को देखकर इस धारणा के साथ लौटता है कि दक्षिण भारत मंदिरों की भूमि है। उत्तर भारत भी उसी प्रकार बहुत से मंदिरों की भूमि रहा है। परन्तु विंध्याचल पर्वत के दक्षिण में देश के भाग बार–बार के विदेशी आक्रमणों से मुक्त रहे और इस कारण अनेक धार्मिक स्मारक उनके स्वेच्छाचारी विनाश से बचे रहे। इस ऐतिहासिक स्थिति के कारण दक्षिण में मंदिर निर्माण कला का निरन्तर विकास होता रहा। तेरहवीं शताब्दी से उत्तरी भारत को प्रभावित करने वाली विदेशी संस्कृतियों का इस विकास पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। दक्षिण भारत में हजारों मंदिर है। उनमें से अनेक प्राचीन मंदिर उत्तम दशा में है और कुछ खंडहरों की हालत में हैं। नगरों में स्थित प्रसिद्ध मंदिरों में अलावा गाँवों तथा कस्बों में भी दो या दो से अधिक मंदिर पाए जाते हैं। उनमें से कुछ इतने प्राचीन और प्रतिष्ठित हैं कि तीर्थ स्थल बन गए हैं। वर्तमान काल के मंदिरों में से अधिकांश मंदिर साधारण व आडम्बरहीन इमारतें हैं जिनमें कोई बड़ी कलात्मकता नहीं है। वास्तव में वे महान् स्मारक प्राचीन काल के हैं। उनमें सबसे पुराने चौदहवीं शताब्दी के स्मारक हैं। उनकी प्राचीनता तथा कलात्मक उत्कृष्टता के अलावा, एक रोचक तथा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वे मंदिर दीर्घकालीन विकास प्रकिया से गुजरे हैं और वे दक्षिण भारत को तत्कालीन संस्कृति के साक्षी के रूप में विद्यमान हैं। दक्षिण भारत के मंदिरों का वर्गीकरण स्थापत्य कला की दृष्टि से मुख्य रूप से द्रविड़ तथा चालुक्य शैलियों में किया जा सकता है। द्रविड़ शैली के मंदिर मुख्यतः तमिल भाषी क्षेत्र में हैं और चालुक्य शैली के मंदिर कन्नड़ भाषा क्षेत्र में। दक्षिण पश्चिम तथा सुदूर दक्षिण केरल में चालुक्य और द्रविड़ शैली का प्रभाव रहा। इन मंदिरों की विशालता, मूर्तिकला, छत, मीनारें तथा चित्र वल्लरीयुक्त दीवारें और स्तम्भ शिल्प का उत्कृष्ट नमूना हैं। मंदिर की वास्तुकला स्थानिक रूप में केवल इस बात को अभिव्यक्त करती थी कि उस समय निर्माताओं की ''जीवन की मोक्ष'' के प्रति कितनी प्रबल इच्छा थी। जिस देवता के नाम–पर वह समर्पित होता था वह ''विश्व नियंता के सर्वोच्च सिद्धान्त'' का प्रतीक होता था और आत्मिक प्रवृत्ति को दिशा प्रदान करता था। एक मंदिर के निर्माण का कार्य पूरा होने में अनेक साल लगते थे, इससे सैकड़ों कारीगरों, शिल्पियों तथा इंजीनियरों को रोजगार मिलता था। पड़ोस के प्रांतों के सर्वोत्तम कारीगरों को संरक्षण प्राप्त होता था और इस प्रकार एक मंदिर के निर्माण के दौरान प्रतिभाशाली मूर्तिकारों तथा चिनाई का काम करने वाले राजगीरों की एक पीढ़ी प्रशिक्षित हो जाती थी। मंदिरों का युग

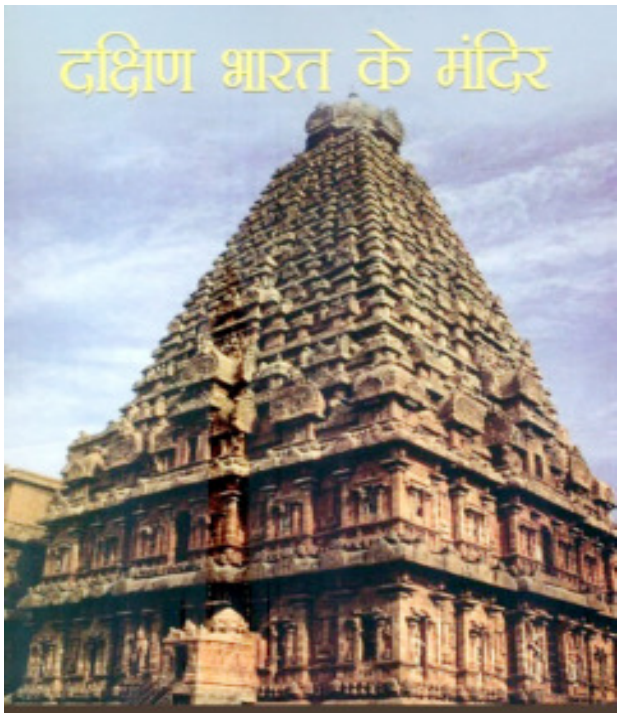


वास्तव में विश्वास व निष्ठा का युग था। उस समय शास्त्रीय ज्ञान की उच्चतम बौद्धिक लक्ष्य माना जाता था और व्यक्ति की योग्यता के मूल्यांकन के लिए निश्चित किए गए मानदंड बहुत ही श्रेष्ठ थे। अपनी प्रसिद्ध तथा मान्यता के इच्छुक विद्वानों के बीच, वाद–विवाद तथा विचार–विमर्श मंदिर के प्रांगण में ही हुआ करते थे। इस प्रकार इन मंदिरों में, विभिन्न प्रकार के मतों तथा दार्शनिक विचारधाराओं का प्रचार करने के लिए महत्वपूर्ण मंच मिल जाता था। मंदिर निर्माण का यह महान् युग जो सामान्यतः 500 ई. के लगभग आरम्भ हुआ था और जो मदुरै तथा रामेश्वरम् के महान् मंदिरों के निर्माण के समय (1600 ई. के लगभग) अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था, मध्य युग के दौरान यूरोप में हुए इसी प्रकार के आन्दोलन के युग से अनेक रूपों में मिलता–जुलता है। दक्षिण भारत में मंदिर स्थापत्य कला का प्रारम्भ कब हुआ, इस बात का पता लगाने के लिए हम वर्तमान मंदिरों के उदाहरणों को दृष्टि में रखते हुए ऐहोल (मैसूर राज्य के बीजापुर जिले में) में पत्थर से बने देव मंदिरों को देखते हैं। ये मंदिर लगभग सबसे पहले बने थे। इन मंदिरों में से अधिकांश हिन्दू मंदिर हैं और कुछ जैन मंदिर हैं। सीमा रानी द्वारा संपादित पुस्तक 'दक्षिण भारत के मंदिर' को भारत सरकार के सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित किया गया है।

**महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.**

**आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407** Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com